THE HINDU

Date: 12-06-24

Facts in fiction

No ban on books or films can be justified in the name of upholding order.

Editorial

The likelihood of protests, communal tension or prejudice to law and order ought not to be cited as a reason to suspend the screening of a film. The Karnataka government's decision to stop the release of the Hindi film, Hamare Baarah, for two weeks violates the freedom of expression in the name of upholding order and preventing communal tension. Such a ban on public screening of films, independent of their merit, has no place in a democratic society. The Bombay High Court, which initially stayed the release of Hamare Baarah, has lifted the ban, following the producer's offer to remove some controversial dialogues. Its observation that allowing an individual to stall the release of a certified film would encourage film producers being held to ransom is consistent with judicial precedents. Once it is certified by the Central Board of Film Certification, presumably after proper scrutiny of its suitability for public viewing, there ought to be no scope for a second opinion by a law enforcement authority. The position that a work, be it a book or a play or a film, may be proscribed under threat of protests or likely violence has been rebuffed by the Supreme Court of India in some landmark verdicts. "... freedom of expression cannot be suppressed on account of threat of demonstration and processions or threats of violence," the Court said in its 1989 judgment in S. Rangarajan vs P. Jagjivan Ram on the film, Ore Oru Gramathile.

The emphasis on freedom of expression does not mean that one should endorse any film whose content is distasteful or obnoxious or contains vile propaganda. As for the film now under the scanner, there is reason to believe that such criticism is justified, beginning with the overt communal overtones in its title itself. Its posters and synopsis suggest that the film draws upon sectarian allegations that the Muslim community is responsible for population growth and that its men force women to bear many children, in utter disregard of their health and well-being. The film's proponents may claim it is about spreading awareness on population control, and that watching the film may dispel such an impression. However, it cannot be denied that contemporary film-making has made stereotyping the Muslim community a significant trend. Any film that gives prominence to the claim that members of the community have more children, must be aimed at pandering to communal sections and the political establishment that encourages them. If the country is to be a free and open society, there is no need to suppress any point of view. At the same time, it must also develop the wherewithal to counter sectarian propaganda with facts and without resort to unconstitutional methods.

दैनिक भास्कर

Date: 12-06-24

अपने पड़ोसियों से रिश्ते सुधारना हमारे लिए जरूरी है

मनोज जोशी, ('अंडरस्टैंडिंग द इंडिया चाइना बॉर्डर' के लेखक)

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने अपने शपथ ग्रहण समारोह में पड़ोसी देशों के नेताओं को आमंत्रित करके अच्छा संकेत दिया। सात देशों के नेता- मालदीव के राष्ट्रपति मोहम्मद मुइज्जू, बांग्लादेश की प्रधानमंत्री शेख हसीना, श्रीलंका के प्रधानमंत्री रानिल विक्रमसिंघे, नेपाल के प्रधानमंत्री पुष्प कमल दहल 'प्रचंड', भूटान के प्रधानमंत्री शेरिंग तोबगे, मॉरीशस के प्रधानमंत्री प्रविंद कुमार जगन्नाथ और सेशेल्स के उपराष्ट्रपति अहमद अफीफ इस कार्यक्रम में मौजूद रहे।

पाकिस्तान का नाम मेहमानों की फेहरिस्त में नहीं था, हालांकि याद रहे कि प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने 2014 में मोदी के पहले शपथ ग्रहण समारोह में हिस्सा लिया था। तब से भारत-पाकिस्तान के बीच बहुत सारे रिश्ते खत्म हो चुके हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि इस बार पाकिस्तान के प्रधानमंत्री शहबाज शरीफ को आमंत्रित करने की कोई योजना थी या नहीं, लेकिन वैसे भी वे शनिवार शाम को ही चीन की अपनी पांच दिवसीय यात्रा से लौटे थे।

पिछले नवंबर में पदभार संभालने के बाद चीन-समर्थक मुइज्जू की यह पहली भारत यात्रा थी। अपने पूर्ववर्तियों के विपरीत- जिन्होंने नई दिल्ली को अपना पहला पड़ाव बनाया था- मुइज्जू भारत से पहले तुर्किये और फिर चीन की यात्रा पर गए थे। मालदीव के साथ भारत के संबंधों में तब खटास आ गई थी, जब मुइज्जू ने 88 या उससे ज्यादा भारतीय सैन्यकर्मियों को वापस बुलाने के लिए कहा था, जो भारत द्वारा मालदीव को उपहार में दिए तीन हेलीकॉप्टरों की देखभाल कर रहे थे।

2014 में मोदी के पहले शपथ ग्रहण समारोह में पाकिस्तान सहित सभी सार्क (SAARC) देशों के नेता शामिल हुए थे। 2019 में दूसरी बार शपथ ग्रहण करने तक भारत के पाकिस्तान से रिश्ते बहुत खराब हो गए थे और सार्क भी निष्क्रिय हो गया था, इसलिए बिम्स्टेक (BIMSTEC या बहु-क्षेत्रीय और आर्थिक सहयोग के लिए बंगाल की खाड़ी में की गई पहल) में शामिल देशों पर जोर दिया गया था। भारत का कहना है कि वह हिंद महासागर क्षेत्र के लिए अपने पड़ोसियों को पहले रखने की नीति के साथ-साथ सागर (SAGAR) क्षेत्र में सभी के लिए सुरक्षा और विकास पर जोर देता है। लेकिन भारत किसी भी चीज से ज्यादा चीन को अपने दिमाग में रखता है। भारत को अपनी विवादित सीमा पर बीजिंग से जैसी सैन्य चुनौती का सामना करना पड़ रहा है, दक्षिण एशिया और हिंद महासागर क्षेत्र में चीन से मिलने वाली चुनौती भी समान रूप से महत्वपूर्ण है।

बांग्लादेश का ही उदाहरण लें, जहां 2011 से 2019 के बीच चीन का प्रत्यक्ष विदेशी निवेश 10.9 गुना बढ़ा है और यह बुनियादी ढांचे, सूचना-प्रौद्योगिकी, रक्षा सहयोग और ऊर्जा उद्योग जैसे विभिन्न क्षेत्रों पर केंद्रित है। भारत से बांग्लादेश

की निकटता और बंगाल की खाड़ी के मुहाने पर उसका होना उसे चीन के लिए भू-राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण बनाता है। पिछले एक दशक में, चीन ने बेल्ट एंड रोड पहल के तहत बांग्लादेश में 35 परियोजनाओं के लिए 4.45 अरब डॉलर प्रदान किए हैं, जिसमें कर्णफुली सुरंग, पद्मा नदी पुल आदि शामिल हैं। बांग्लादेश भारत और अमेरिका के साथ संबंधों को संतुलित करने के लिए चीन से अपने संबंधों का उपयोग करना चाहता है। बांग्लादेश में लोकतंत्र के मुद्दों पर भारत का रुख अमेरिका की तुलना में अधिक सूझबूझ भरा है और वह बांग्लादेश का प्रमुख रणनीतिक साझेदार बना हुआ है। साथ ही वह उसके साथ कई परिवहन और ऊर्जा परियोजनाओं में भी शामिल है। पिछले एक दशक में, बांग्लादेश से भारत का द्विपक्षीय व्यापार 2012-2013 में 5.3 अरब डॉलर से बढ़कर 2021-22 में 15.93 अरब डॉलर तक हो गया है। गैर-टैरिफ बाधाओं और सीमा पार आवागमन से संबंधित प्रक्रियागत मुद्दों के कारण व्यापार में जरूर बाधा आई है।

निकट-अतीत में भारत ने अपने कुछ पड़ोसियों को नाराज किया है। उदाहरण के लिए, 2015 में नेपाल की छह महीने की नाकेबंदी के कारण उसमें भारत के खिलाफ काफी नाराजगी निर्मित हो गई थी। हालांकि भारत ने इससे इनकार किया था कि नेपाल में मधेशी प्रदर्शनकारियों द्वारा शुरू की गई नाकाबंदी में उसकी भूमिका थी। लेकिन अब मुश्किल पड़ोसियों से निपटने में नई दिल्ली ज्यादा शांतिपूर्ण रवैया अपना रही है। इसका उदाहरण मालदीव के साथ उसका व्यवहार है। मुइज्जू की हरकतों के बावजूद भारत ने मालदीव के साथ दोस्ताना रवैया कायम रखा है। हाल ही में मुइज्जू ने ऋण राहत के लिए नई दिल्ली से सहायता भी मांगी। लेकिन भारत का अपने पड़ोसियों के प्रति बदला हुआ रुख सबसे स्पष्ट रूप से तब दिखाई दिया था, जब विदेशी मुद्रा भंडार की कमी होने के कारण श्रीलंका को संकट का सामना करना पड़ा था। तब भारत ने तुरंत 4 अरब डॉलर की वित्तीय सहायता प्रदान की थी, जो आईएमएफ के 3 अरब डॉलर के बेलआउट से भी अधिक थी। भारत की वैश्विक महत्वाकांक्षाएं तब तक पूरी नहीं हो सकतीं, जब तक कि उसका क्षेत्र उसके साथ न हो।

Date: 12-06-24

शहरों में कूड़ा प्रबंधन पर अभी बहुत काम बाकी है

डॉ. सुनील पांडे निदेशक, (सर्कुलर इकोनॉमी एंड वेस्ट मैनेजमेंट, द एनर्जी एंड रिसोर्स इंस्टीटयूट)

जब भी शहरी क्षेत्रों में कूड़ा प्रबंधन से जुड़ी बात होती है, तो दो बड़ी चिंताएं सामने आती हैं- म्युनिसिपल सॉलिड वेस्ट (एमएसडब्ल्यू) और दूसरा सीवेज। हालांकि शहरी क्षेत्रों में और भी तरह का कूड़ा चिंता का सबब है, जैसे इलेक्ट्रॉनिक वेस्ट, निर्माण कार्यों से निकलता मलबा, अस्पताल या बायोमेडिकल वेस्ट और प्लास्टिक वेस्ट। शहरों में कूड़े का कुप्रबंधन न सिर्फ पर्यावरण प्रदूषण पैदा कर रहा है बल्कि इससे मानवजनित ग्रीनहाउस गैसों (जीएचजी) का उत्सर्जन भी बढ़ रहा है।

केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के मुताबिक भारत के शहर हर साल 58 मिलियन टन कूड़ा पैदा करते हैं। जिस गति से कूड़ा बढ़ रहा है, अनुमान के मुताबिक साल 2030 तक यह 165 मिलियन टन और 2050 तक 436 मिलियन टन तक पहुंच

जाएगा। हालांकि जब से स्वच्छ भारत मिशन की शुरुआत हुई है, शहरों में ठोस अपशिष्ट के ट्रीटमेंट की क्षमता 26 हजार टन प्रतिदिन (18%) से बढ़कर 1 लाख टन प्रतिदिन (70%) तक पहुंच गई है।

शहरी क्षेत्रों में कूड़ा प्रबंधन और इसके निष्पादन में सुधार हुआ है, लेकिन कूड़े को यहां-वहां फेंककर कूड़ाघर बना देने का हमारा इतिहास रहा है, जहां हर तरह का कूड़ा फेंक दिया जाता है। इससे मिट्टी, भूजल प्रदूषित होता है, ऐसे कूड़े के ढेर में आग लगने से मीथेन निकलती है, जिससे जीएचजी लेवल बढ़ता है। शहरों में प्लास्टिक की पैकेजिंग भी बड़ी समस्या है। ये दुनियाभर में गंभीर है और प्लास्टिक कूड़ा नदियों में मिलकर समुद्र को दूषित कर रहा है। यूएनईपी के मुताबिक हर सेकंड, करीब एक ट्रक प्लास्टिक समुद्र में मिल रहा है। अगर इस पर काबू नहीं किया गया तो 2050 तक समुद्री कूड़ा मछलियों से ज्यादा हो जाएगा।

सीवेज की समस्या भी गंभीर बनी हुई है। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अनुसार (2020-21) शहरी क्षेत्रों में 72,368 मिलियन लीटर प्रतिदिन (एमएलडी) सीवेज निकलता है, जबकि सीवेज ट्रीटमेंट प्लांट की मौजूदा क्षमता 36,842 एमएलडी ही है। हालांकि इनकी असल कार्यक्षमता और कम है। जितना भी सीवेज निकलता है, उसके 28 फीसदी का ही ट्रीटमेंट हो पाता है। सीवेज ट्रीटमेंट प्लांट (एसटीपी) से भी कीचड़ निकलता है, इसका भी विधिवत निपटारा जरूरी है और ज्यादातर शहरों में इसके लिए आधारभूत ढांचा नहीं है। गैरनिष्पादित सीवेज के जमीन पर या पानी में मिलने से ये प्रदूषित हो रहे हैं। इस विषय पर नीति आयोग की रिपोर्ट बताती है कि सीवेज के ट्रीटमेंट की कमी के कारण भारत में जल-जनित बीमारियों के इलाज में 15 अरब डॉलर से ज्यादा खर्च होते हैं। ज्यादातर शहर इस तरह की सीवेज ट्रीटमेंट सुविधाएं इसलिए नहीं जुटा पा रहे हैं क्योंकि इनके निर्माण के साथ, संचालन और प्रबंधन में बहुत पूंजी लगती है और अधिकांश सीवेज प्लांट्स को चलाने में बिजली भी बहुत ज्यादा खर्च होती है। इसलिए ये जरूरी है कि शहर और कस्बे मिलकर, घनी आबादी वाले इलाकों के लिए केंद्रीकृत सीवेज सुविधा और ट्रीटमेंट प्लांट का निर्माण करें। वहीं जहां आबादी कम है, वहां सोर्स ट्रीटमेंट सुविधाओं (जैसे रूट ज़ोन सिस्टम) को विकेंद्रीकृत करें। सूरत इसका उदाहरण है, जो सीवेज को ट्रीट करके इंडस्ट्रीज़ को बेचकर हर साल 150 करोड़ रु. कमाता है।

द एनर्जी एंड रिसोर्स इंस्टीट्यूट (टेरी) अपनी 50वीं वर्षगांठ बना रहा है। पर्यावरण से जुड़े ऐसे कई मुद्दों से निपटने के लिए टेरी ने स्थानीय सरकारों के साथ मिलकर कई कदम उठाए हैं। इसमें जीआईज़ी की मदद से पणजी में शुरू हुआ शॉप विद योर वेस्ट अभियान शामिल है, जहां कुछ किराना स्टोर किराने के बदले में रिसाइकिल योग्य कूड़ा लेते हैं। बहरहाल, भारत में पर्यावरण प्रदूषण को कम करने और सस्टेनेबल शहरी वातावरण बनाने के लिए व्यापक और नई अपशिष्ट प्रबंधन रणनीतियां जरूरी हैं।

दैनिक जागरण

Date: 12-06-24

संघवाद पर राष्ट्रीय सहमति बने

शंकर शरण, (लेखक राजनीतिशास्त्र के प्राध्यापक एवं वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

चुनाव नतीजों और सरकार गठन के बाद कुछ विषयों पर दलगत राजनीति से ऊपर उठकर विचार आवश्यक हो गया है। अन्यथा धर्म-संस्कृति ही नहीं, बल्कि उन्नति, एकता और विकास आदि की बातें बेमानी हो जाती हैं। ये विषय दलीय सीमाओं से बाहर हैं। इन्हें दलीय संकीर्णता में तय करने की कोशिशें अहितकारी भी हैं। स्वतंत्र भारत में संघीय और क्षेत्रीय अस्मिता का सामंजस्य ऐसा ही विषय है। आश्चर्य कि स्वतंत्रता के 75 वर्ष बाद भी हमारे नेताओं ने इस पर राष्ट्रीय सहमति बनाने की चिंता नहीं दिखाई है, बल्कि हालिया चुनाव में की गईं बयानबाजियां तो उलटा दिखा रही थीं। अनेक नेता क्षेत्रीय विद्वेष, असंतोष या अहंकार उभारने में लगे थे। इसमें वे भी थे, जिन्हें राष्ट्रीय दल का दर्जा मिला हुआ है। महाराष्ट्र में गुजराती बनाम मराठी भी एक मुद्दा बना। फिर बिहार के एक नेता ने कहा कि कम सांसदों वाले राज्य के नेता पूरे देश पर शासन करते हैं, जबकि अधिक सांसदों वाले राज्य के लोग केवल मजदूरी करने हर कहीं भटकते हैं। यह कहकर उन्होंने असमान विकास के मुद्दे को पक्षपात से जोड़ा। एक राष्ट्रीय नेता ने पुरी के जगन्नाथ मंदिर की चाबी दक्षिण चली गई कहकर अनजाने ही दक्षिण भारत को कठघरे में कर दिया। यद्यपि उनका निशाना एक स्थानीय नेता थे। तब एक तमिल नेता ने उन पर अनुचित दोष लगाने का आरोप लगाया। इसी तरह जब किसी राज्य और केंद्र की सत्ता भिन्न-भिन्न दलों के हाथ रहती है, तो केंद्रीय अनुदान में या एजेंसियों के उपयोग में भी भेदभाव की बातें उठती हैं। फिर एक ही नेता चेन्नई, दिल्ली और भुवनेश्वर में अंतर्विरोधी बातें कहते हैं। इससे बचा जा सकता है, यदि नेता कुछ विषयों को दलबंदी से अलग रखें, पर विचित्र बात है कि दिखाने के लिए जो लोग 'वसुधैव कुटुंबकम्' की बात करते हैं, वे व्यवहार में देश में, बल्कि एक राज्य, समुदाय और दल में भी ईर्ष्या-द्वेष और अविश्वास को हवा देते हैं। मानो देश तो क्या ये अपने समुदाय के भी सभी लोगों को अपना नहीं मानते।

राष्ट्रीय दलों के अंदर भी कभी-कभी उत्तर-दक्षिण गुट झलकता है। सो स्वतंत्र भारत में केंद्रीय बनाम क्षेत्रीय संबंध पर पेंडुलम सी स्थिति रही है। कभी अतिकेंद्रीयता, तो कभी बिखराव सा दिखता है। जब किसी राष्ट्रीय दल की ताकत बहुत बढ़ जाती है, तो केंद्रीयकरण प्रवृत्ति बढ़ती लगती है। जब केंद्र में किसी को बहुमत न मिले तो कई नीतियों में टाल-मटोल, अस्पष्टता दिखती है। यह सब संघ और राज्य के अधिकार और कर्तव्य पर सहमति के अभाव का ही संकेत है। मजे की बात है कि अंग्रेजों ने देश भर में विशिष्ट क्षेत्रों, शासकों, समूहों को स्वायत्त रहने दिया, जबकि वे असंख्य छोटी-बड़ी रियासतों को खत्म करने में समर्थ थे। त्रावणकोर से कश्मीर और राजपूताना से मैसूर तक सैकड़ों छोटे-बड़े क्षेत्रों पर अंग्रेजों ने केवल औपचारिक अधिकार रखा था। वास्तविक सत्ता रियासतों के पास थी। यह भी ब्रिटिश राज के लंबे समय

तक चलने का एक कारण रहा। सैकड़ों सशक्त भारतीय राजा और नवाब अंग्रेजों के प्रति सामान्य या मैत्री भाव रखे हुए थे, जिससे ब्रिटिश राज अधिक सबल, समृद्ध और दीर्घकालिक बना। स्वतंत्र भारत के शासक अभी तक वह संतुलित प्रणाली नहीं बना सके हैं।

कभी केंद्र अत्यधिक हस्तक्षेपकारी हो जाता है, तो कभी एकदम ढुलमुल। एक समय तो केंद्र में भारी बहुमत से आई सरकार मनमाने तौर पर राज्य सरकारों को बर्खास्त कर देती थी, ताकि राज्यों में भी केंद्रीय सत्ताधारी दल के लोगों की सत्ता बन जाए। राज्यपालों के माध्यम से राज्य में दखलंदाजी पर भी सवाल उठते थे। क्षेत्रीय भावनाओं पर चोट का तीसरा रूप केंद्रीय नेताओं द्वारा उन राज्यों के मुख्यमंत्रियों को मनमाने तरीके से नियुक्त करना, बदलना रहा है, जहां उनके दल की सरकार हो। इसमें राज्य के जन-गण और विधायकों की इच्छा को भी दरकिनार कर केंद्रीय नेता अपनी पसंद थोपते हैं। इससे राज्य में सुयोग्य नेता भी उपेक्षित किए जाते हैं और एक नेता द्वारा देश के हर कोने पर एकाधिकारी निर्णय करने का संदेश जाता है। यह राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अनावश्यक है। ऐसे कदम क्षेत्रीय असंतोष पैदा करते रहते हैं, विशेषकर जब कोई राज्य और केंद्र में सत्ता के दौरान अंतर्विरोधी नीतियां अपनाता दिखे। जैसे राज्यसभा में किसी राज्य की सीटों पर पर उसी राज्य के व्यक्ति जाएं या किसी भी राज्य के व्यक्ति जा सकते हैं? अथवा क्या नेताओं के लिए रिटायरमेंट की कोई आयु है? ऐसी बातों पर जब जैसा तब तैसा से क्षेत्रवाद या भेदभाव की सुगबुगाहट होती है। उसी तरह भाषा, शिक्षा, सांस्कृतिक, सामाजिक/राष्ट्रीय त्योहारों पर केंद्र से सब कुछ तय करना अनुपयुक्त है। वस्तुत: राजनीतिक केंद्रीयकरण भारतीय मिजाज और परंपरा के विपरीत है।

देश की सामरिक एवं विदेश नीति में केंद्र का महत्व होना उचित है। काफी हद तक मुद्रा और विदेश-व्यापार में भी। शेष सभी विषय-भाषा, शिक्षा, संस्कृति, कराधान और स्थानीय प्रशासन आदि में क्षेत्रीय रुचियों और क्षमताओं को प्रमुखता देना ही अच्छा है। वह देशवासियों के बीच सहयोग, सौहार्द और अपनी-अपनी प्रतिभाओं के मुक्त विकास में भी सहायक हो सकता है। हर चीज का केंद्रीयकरण करने से अंततः अधिकांश क्षेत्रों में दक्षता गिरती है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति या समिति विविध प्रकार के नियमित मामलों, समस्याओं, शिकायतों और सुझावों आदि को स्वयं देख ही नहीं सकते, जो केरल से असम तक से आती रहती हैं। सो अंततः यह सब केंद्रीय संस्थानों के मातहत मामूली कर्मचारी ही देखते हैं, जो सीमित समझ रखते हैं। इस प्रकार असंख्य विषयों में जो कार्य स्थानीय जानकार और अनुभवी अधिक अच्छे से करते, वह केंद्रीय स्तर से होने पर प्रायः जैसे-तैसे और दिखावटी होकर रह जाते हैं।

केंद्र स्तर पर कम से कम विषयों पर अधिकार रखना ही उचित है। यह देश की सांस्कृतिक एकता के लिए भी उपयुक्त है। इसलिए हमारे नेताओं को राजनीतिक ही नहीं, शैक्षिक, सांस्कृतिक और व्यापारिक विषयों पर भी केंद्र और राज्यों के बीच उदार संबंध बनाने की पहल करनी चाहिए। यह दलबंदी से ऊपर उठकर ही संभव है। यह सच्ची इच्छाशक्ति और सद्भावना की मांग करता है। शेष सभी उपाय स्वत: मिल जाएंगे।

जनसत्ता

Date: 12-06-24

मणिपुर की आग

संपादकीय

एक वर्ष से अधिक समय बीत गया, मगर अभी तक मणिपुर में खूनी संघर्ष समाप्त नहीं हो पाया है। शुरू से ही वहां शांति बहाली के प्रयास शिथिल नजर आते हैं। प्रशासन और सुरक्षाबलों ने इच्छाशक्ति दिखाई होती, तो बहुत पहले इस समस्या का समाधान निकल गया होता। मगर उनकी भूमिका संदिग्ध बनी हुई है। इसी का नतीजा है कि सोमवार को उपद्रवियों ने घात लगा कर मुख्यमंत्री एन बीरेन सिंह के काफिले पर हमला कर दिया। गनीमत है कि उसमें सिर्फ एक सिपाही घायल हुआ, कोई बड़ा नुकसान नहीं हुआ। इससे वहां के उपद्रवियों के हौसले का अंदाजा लगाया जा सकता है। अब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख मोहन भागवत ने मणिपुर की स्थिति पर चिंता जाहिर करते हुए कहा है कि इतने लंबे समय से वहां अशांति का वातावरण है, मगर उसे हल करने की कोशिश नहीं की गई। इसे प्रथमिकता में रखते हुए शांति बहाली का प्रयास किया जाना चाहिए। पिछले दस वर्षों से वहां शांति का वातावरण था। हालांकि भागवत ने भी इस मामले में बयान देने में काफी वक्त लगा दिया। इसे लेकर विपक्षी दल लगातार सवाल उठाते रहे हैं। संसद में भी प्रश्न पूछे गए, मगर कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिल सका। अभी तक पूछा जाता है कि मणिपुर पर प्रधानमंत्री क्यों खामोश हैं।

मणिपुर में कुकी और मैतेई समुदाय के बीच संघर्ष, एक भ्रमपूर्ण बयान की वजह से भड़क उठा था। हालांकि अब वहां की अदालत खुद इस संभावना को खारिज कर चुकी है कि मैतेई समुदाय के लोगों को जनजातीय समुदाय का दर्जा दिया जाना चाहिए। मगर न तो राज्य और न केंद्र सरकार मणिपुर के खूनी संघर्ष को रोक पाई है। शुरू में जरूर केंद्रीय गृहमंत्री वहां गए थे, मगर फिर कोई उल्लेखनीय कार्रवाई नहीं हो सकी। बाद में सर्वोच्च न्यायालय ने मामले का संज्ञान लेते हुए जांच और कार्रवाई के लिए समितियां गठित कर दी, मगर उसका भी कोई नतीजा नजर नहीं आ रहा। पिछले वर्ष मई में शुरू हुए इस संघर्ष में अब तक सवा दो सौ से अधिक लोगों के मारे जाने, चार सौ से अधिक लोगों के घायल होने, हजारों घरों के जलाए जाने और साठ हजार से अधिक लोगों के विस्थापित होकर राहत शिविरों में शरण लेने के तथ्य उजागर हैं। सरकारों को अब यह बहाना जरूर मिल गया है कि मणिपुर के संघर्ष को रोकने की कार्रवाई सर्वोच्च अदालत की निगरानी में चल रही है, इसलिए वे इसमें बहुत हस्तक्षेप नहीं कर सकतीं। मगर यह उनका अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लेने का एक और तरीका है।

यह समझना मुश्किल है कि कैसे कोई भी कल्याणकारी सरकार अपने नागरिकों को इस तरह मारकाट करते देखती रह सकती है। राज्य सरकार तो इस मामले में शुरू से नाकाम साबित हुई है, मगर केंद्र सरकार ने इस पर अपेक्षित गंभीरता क्यों नहीं दिखाई, समझ से परे है। जिस तरह वहां महिलाओं को निर्वस्त्र करके घुमाया गया, उनके साथ सामूहिक बलात्कार किया गया, उससे पूरी दुनिया में देश की छवि खराब हुई। मणिपुर के लोगों का सरकार और प्रशासन पर से भरोसा उठ चुका है। गांव वाले खुद सुरक्षा दल बना कर पहरेदारी करते और उपद्रवियों से बचने की कोशिश करते हैं।

यानी वहां के लोगों को एक तरह से उनके हाल पर छोड़ दिया गया है। संघ प्रमुख की मणिपुर को लेकर प्रकट की गई चिंता को केंद्र सरकार कितनी गंभीरता से लेती है, देखने की बात है।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 12-06-24

इस चुनाव में आधी आबादी का हासिल

मनीषा प्रियम, (राजनीतिक विश्लेषक)

सतरहवीं लोकसभा का वह आखिरी सत्र था और विशेष भी, क्योंकि उसमें 'नारी शक्ति वंदन अधिनियम' को पारित किया गया। इसके द्वारा यह सुनिश्चित किया गया कि आने वाले वर्षों में (साल 2029 के आम चुनाव से संभवत:) लोकसभा में महिलाओं के लिए सीटें आरक्षित की जाएंगी। आरक्षण की यह सीमा 33 फीसदी तय की गई और इसे देश भर की विधानसभाओं पर भी लागू किया गया है। स्वाभाविक ही यह प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली राजग सरकार की महिलाओं के प्रति प्रतिबद्धता का संकेत था।

यूं तो महिला आरक्षण की चर्चा बतौर प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने सन् 1989 में ही उठाई थी। तब केंद्रीय मंत्री मार्गरेट अल्वा के नेतृत्व में एक कमेटी का गठन किया था, जिसने ग्राम पंचायतों और स्थानीय निकायों में महिलाओं के लिए आरक्षण प्रस्तावित किया। हालांकि, उनका वह विधेयक लोकसभा में तो पास हो गया, मगर राज्यसभा में गिर गया। उस वक्त खासकर सामाजिक न्याय में विश्वास रखने वाले नेताओं ने ही इसका विरोध किया था। तब शरद यादव ने कुछ ऐसी टिप्पणी की थी, जिससे प्रतीत हुआ कि 'परकटी' महिलाएं वास्तव में जाति आधारित आरक्षण को महिला आरक्षण के परोक्ष प्रयोग से कमजोर बना देंगी। हालांकि बाद में, पीवी नरसिंह राव वाली कांग्रेस सरकार ने इसे पास किया। बावजूद इसके संसद में महिला आरक्षण की फाइल धूल-धूसरित ही रही। कहा यह भी जाता रहा कि बीजद या तृणमूल कांग्रेस जैसी पार्टियां बगैर आरक्षण के भी औरतों को खुले दिल से टिकट देती हैं, जिसका अर्थ है कि बगैर आरक्षण के उन्हें संसद में लाया जा सकता है।

इसी पृष्ठभूमि में 18वीं लोकसभा के लिए चुनाव हुए। इसमें महिलाओं के बारे में दो बातें प्रमुखता से पूछी जा रही हैं। पहली, किस पार्टी ने कितने टिकट आधी आबादी को दिए और दूसरी, कहां से व कितनी औरतें चुनाव जीतने में सफल हुईं? हालांकि, चुनावी चर्चा में यह मुद्दा भी गरम रहा कि क्या महिलाएं सिर्फ एक वोटबैंक हैं और राष्ट्रीय चुनाव में क्या वे एकमुश्त नरेंद्र मोदी को अपना वोट देंगी? ऐसा इसलिए, क्योंकि अयोध्या में रामलला की मूर्ति-स्थापना के बाद माना जा रहा था कि महिलाएं इसके लिए प्रधानमंत्री को धन्यवाद देंगी और अपना वोट भाजपा को देंगी।

मगर चुनाव-बाद की तस्वीर कुछ अलग दिख रही है। बेशक 'मोदी 3.0' एक मिली-जुली सरकार है, फिर भी रविवार को जब मंत्रिमंडल की शपथ दिलाई गई, तो 72 माननीयों में केवल चार महिलाओं को यह सौभाग्य मिला। वैसे, लोकसभा में भी इस बार पिछली बार की तुलना में महिलाओं का कम प्रतिनिधित्व होगा। एडीआर के मुताबिक, 18वीं लोकसभा के

लिए 74 महिलाओं का निर्वाचन हुआ है, जो कुल सांसदों का 13.6 प्रतिशत है। 17वीं लोकसभा में यह आंकड़ा 14 प्रतिशत था और 77 महिलाएं निचले सदन में आई थीं। हालांकि, 2014 के आम चुनाव में 542 में से 62 (11 प्रतिशत) महिला सांसद थीं, जबकि 2009 में 11 फीसदी (543 में से 59 सांसद) हिस्सेदारी आधी आबादी को हासिल हुई थी।

यदि विजेता उम्मीदवारों का लिंग के आधार पर विश्लेषण करें, तो इस बार बड़ी पार्टियों में तृणमूल कांग्रेस सभी दलों पर भारी साबित होती दिख रही है। उसके 29 सांसदों में से 11 महिलाएं (38 प्रतिशत) हैं। इनमें कृष्णानगर से जीतने वाली महुआ मोइत्रा भी शामिल हैं, जिनको कुछ ही महीने पहले लोकसभा से निष्कासित कर दिया गया था। तृणमूल कांग्रेस चूंकि 'इंडिया' ब्लॉक की प्रमुख सहयोगी है, इसलिए मुमकिन है कि विपक्ष में महिलाओं की आवाज बुलंद होती रहेगी। वैसे, कांग्रेस से जीतने वाली महिला उम्मीदवारों का प्रतिशत 13 है, जबकि सपा से 14 प्रतिशत। रही बात भाजपा की, तो उसके कुल सांसदों में विजेता महिलाओं की हिस्सेदारी 13 फीसदी है।

यहां कुछ सांसदों का नाम उल्लेखनीय है, विशेषकर राजस्थान की भरतपुर सीट से निर्वाचित संजना जाटव की, जिनकी जीत बताती है कि अब संभ्रांत घर की महिलाएं ही नहीं, दबी-कुचली जातियों की औरतें भी लड़कर लोकसभा में आने को आतुर हैं। एक लंबे अरसे तक औरतों की यह कहकर आलोचना की जाती रही कि किन्हीं कारणों से यदि पति चुनाव नहीं लड़ पाता, तो उसके रिक्त स्थान को भरने के लिए पत्नी मैदान में उतारी जाती है। मगर अब युवतियां खुद अपनी लड़ाई लड़कर वर्ग-जाति का प्रतिनिधित्व कर रही हैं। इसी तरह, कर्नाटक से प्रियंका जारकीहोली, बिहार से शांभवी चौधरी, उत्तर प्रदेश से इकरा हसन और प्रिया सरोज की चर्चा स्वाभाविक है, जो युवा महिला सांसदों में शुमार हैं। यहां सोफिया फिरदौस का उल्लेख भी आवश्यक है, जो वैसे तो ओडिशा की पहली मुस्लिम महिला विधायक बनी हैं, लेकिन आईआईएम की पढ़ाई करने के बाद उनका इस तरह राजनीति में उतरना बदलते समाज का एक महत्वपूर्ण संकेत है।

सवाल है कि आने वाले दिनों में संसद में महिलाओं का प्रतिनिधित्व कैसे बढ़ाया जाए? इसके लिए तो सबसे पहले सभी दलों को औरतों को अधिक टिकट देना होगा, साथ ही महिलाओं को खुद भी सदन में पक्ष व प्रतिपक्ष की मुखर आवाज बनकर उभरना होगा। जरूरत इस बात की है कि महिलाएं राजनीतिक सरोकार से ऊपर उठकर जनहित के मुद्दों पर एकजुटता दिखाएं। जहां कहीं भी महिला अधिकारों का हनन हो, वहां उनको दलीय राजनीति से ऊपर उठकर उस महिला की प्रतिष्ठा का समर्थन करना चाहिए। मणिपुर में पिछले दिनों औरतों के अधिकारों का जिस तरह हनन किया गया, उसका एकजुट होकर विरोध जरूरी था, पर ऐसा हो नहीं सका। लिहाजा, महिला सांसदों को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि कैसे आधी आबादी की प्रतिष्ठा बनी रहे और वह भारतीय लोकतंत्र में समान नागरिक बनकर अपनी लोकतांत्रिक भागीदारी निभा सके।

चूंकि 2029 से महिला आरक्षण के तहत चुनाव संभावित हैं, इसलिए जो संसदीय क्षेत्र औरतों के लिए चिह्नित होंगे, उसमें यदि पार्टियां केवल मजबूत नेताओं की पत्नी-बेटी अथवा बहू को टिकट देंगी, तो स्वायत्तता से महिलाओं का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकेगा। लिहाजा, राजनीतिक दलों पर यह दबाव भी बनाना चाहिए कि वे उन महिलाओं पर भरोसा करें, जो अपने बूते लड़ने में सक्षम हैं। वैसे, ईमानदारी से टिकट वितरण ही काफी नहीं है। संसदीय प्रणाली का प्रशिक्षण भी नवनिर्वाचित महिला सांसदों को देना होगा, तभी वे संसद में अपनी बात दम-खम के साथ रख सकेंगी।